P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-8, ISSUE-3 February -2020
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

साहित्य और मूल्य का अंतर्सम्बन्ध : एक अनुशीलन

सारांश

किसी भी साहित्य की सार्थकता उसकी मूल्यपरकता में निहित है। साहित्य और मूल्य का गहरा संबंध है। साहित्य का मूल्य के बिना कोई महत्त्व नहीं है। साहित्य समाज के बाह्य और आंतरिक दोनों घटकों को उद्घाटित करता है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। मूलतः साहित्य का उद्देश्य लोक–कल्याण से संबंधित विचारों को प्रकट करना और जन–जन तक पहुँचाना है। मूल्य की स्थापना और समय–समय पर इनका परिष्कार करना भी साहित्य का धर्म है। किसी भी साहित्य की सार्थकता उसकी मूल्यपरकता में निहित है। इसलिए साहित्य–सर्जक के लिए मूल्य–निरपेक्ष कृति की सृष्टि करना निरर्थक है। इससे उसकी रचना निष्प्रयोजन हो जाती है।

मुख्य शब्द : निवारण, परिष्कार, प्रतिमान, प्रतिविशिष्ट, प्राणपोषण, मानवादर्श, मूल्य–निरपेक्ष, मूल्यपरकता, लोक–कल्याण, सर्वोच्च शुभ, साक्षीभाव, सार्थकता, साहित्य–सर्जक, श्रीसम्पन्नता, ज्ञानमीमांसा,

आलोक कुमार पाण्डेय
पूर्व शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,
जयप्रकाश विश्वविद्यालय,
छपरा, बिहार, भारत

प्रस्तावना

आधुनिक साहित्य में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्तर का संपूर्ण मानव–व्यवहार के मानदंड के रूप में किया जाता है। मूल्य मानव–जीवन को स्थायित्व प्रदान करते हैं। मूल्यों द्वारा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। साहित्य पाठकों को जीवन के यथार्थ से जोड़ता है और आदर्श की ओर प्रेरित करता है। साथ ही यह मूल्यों के प्रति आस्था भी उत्पन्न करता है। काव्यशास्त्र में साहित्य को 'साहितस्य भावः इति साहित्यम्' कहा गया है। अर्थात् साहित्य में हित भावना होना अनिवार्य है। साहित्य की पहचान आज भी मूल्यों से ही है। अतः साहित्य की मूल्यवत्ता की पड़ताल, विश्लेषण आदि के संदर्भ में प्रस्तुत शोधालेख की प्रस्तावना की गई है।

साहित्यावलोकन

मूल्य की अवधारणा को समझने के लिए मानव के अस्तित्व के साथ ही उससे संबंधित अन्य संदर्भों को समझना जरूरी है। दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानविकी, कला आदि विषयों से जुड़े होने के कारण 'मूल्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भ में होता है। मूल्यों की प्रकृति में टिकाऊपन के साथ ही गतिशीलता का होना भी जरूरी है। मूल्यों को जड़ता का शिकार होने से बचाने की जिम्मेदारी भी हमसब की है। गतिशील समाज के लिए नये मूल्यों का सृजन भी एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके अभाव में समाज जड़ हो जाता है। सामाजिक जड़ता को तोड़ने के लिए मूल्यों का अन्वेषण करना जरूरी है।

चूँकि मूल्य का निर्माता मनुष्य स्वयं है, इसलिए इसका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से गहराई से जुड़ा हुआ है। साहित्य मनुष्य की चित्तवृति का प्रकटीकरण है इसलिए शोध–कार्य हेतु साहित्य और मूल्य के अंर्तसम्बन्ध का अनुशीलन सर्वथा प्रासंगिक एवं समसामयिक विषय है। मानव मूल्य और साहित्य (धर्मवीर भारती), स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव–मूल्य और उपलब्धियाँ (डॉ. भगीरथ बड़ोले), समकालीन पाश्चात्य दर्शन (प्रो. नित्यानन्द मिश्र), पाश्चात्य काव्यशास्त्र (आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा), मानवीय मूल्य (डॉ. तपेश्वर नाथ), नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ (डॉ. सुरेन्द्र वर्मा), अशोक के फूल (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी), कुछ विचार (प्रेमचंद), चिंतामणि (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), भारतीय परंपरा के मूल स्वर (गोविंदचंद्र पाण्डेय), सर्जना और संदर्भ (अज्ञेय), लेखक की साहित्यिकी (नन्दकिशोर आचार्य), शिक्षा : दार्शनिक परिप्रेक्ष्य (चाँद किरण), संस्कृत वाङ्मय और मानव–मूल्य (डॉ. कृष्ण चन्द्र चौरसिया) आदि कृतियों में मूल्य का व्यापक अध्ययन व विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु प्रस्तावित विषय पर इस रूप में कोई अद्यतन शोधकार्य नहीं हुआ है, अतः यह विषय शोधालेख हेतु सर्वथा समीचीन है।

अध्ययन का उद्देश्य

साहित्य जो मानव की संस्कृति, सभ्यता और व्यक्तित्व का प्रकटीकरण है, इसका मानवीय–मूल्यों से शाश्वत संबंध भी है। साहित्य का लक्ष्य ही पाठक को आह्लादित तथा समाज को मार्गदर्शित करना होता है। वर्तमान समय में साहित्य और मूल्य को लेकर विमर्श चल रहा है। मूल्य साहित्य के प्राण के समान है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य साहित्य और मूल्य के संबंधों को निरूपित करना है, साथ ही साहित्य की मूल्यपरकता के औचित्य पर विचार करना भी है।

परिकल्पना

साहित्य का लक्ष्य सत्य को उजागर करने के साथ जीवन–मूल्यों एवं मानवीय संवेदनाओं को पुनर्जीवित करना है। साहित्य मूल्यगत होता है। साहित्य नये मूल्यों का सृजन करता है जो समाज के विकास में सहायक हो तथा जो मानव–कल्याण में रूचि रखता हो। साहित्य उन मूल्यों पर प्रहार भी करता है जो मानव मानव में विभेद करता हो तथा जो स्वतंत्रता, समानता और मानवमात्र के कल्याण में बाधा उत्पन्न करता हो। मूल्य समाज के संदर्भ में उचित–अनुचित का विभेद करता है। इस शोधालेख से साहित्य की मूल्यवत्ता को स्पष्ट करने में सहायता मिल सकेगी। इससे संबंधित विषय के पूर्वाग्रहों के निदान और निवारण में सहायता मिल सकती है।

शोध–विधि

प्रस्तावित शोध में मननात्मक शोध की विश्लेषण विधि, व्याख्यात्मक और मूल्यांकनपरक विधियों को अपनाया जाएगा। यहाँ मुख्य रूप से तथ्यपरक आलोचनात्मक विधि और आसन–कार्य विधि अपनायी जाएगी ।

शोध उपकरण

प्रस्तुत शोधालेख के लिए मूल्य–विमर्श से संबंधित कृतियों का उपजीव्य ग्रंथ के रूप में उपयोग किया जाएगा, जबकि उनकी रचनाओं से संबंधित अन्य आलोचनात्मक सामग्रियों का उपयोग उपस्कर ग्रंथ के रूप में किया जाएगा। इन सबके अतिरिक्त संदर्भ–ग्रंथ के रूप में अन्य डायरी, लेख, पत्र, समाचार–पत्र, रचनाओं, समीक्षाओं, आलेखों, शोधालेखों, शोध–प्रबंधों का उपयोग किया जाएगा। अन्य सहायक सामग्रियों के लिए गूगल–पुस्तक या सूचनातंत्र के वेबलिंक का उपयोग किया जाएगा।

प्रदत्तों का विश्लेषण

'मूल्य' की मूल अवधारणा का सम्बन्ध उस गुण या धर्म से है जो किसी अस्तित्ववान वस्तु, व्यक्ति या समाज के मूल में निहित होता है, जिससे इन सबके अस्तित्ववान बने रहने और उसके उत्कर्ष में सहायता मिलती है। इससे अस्तित्ववान वस्तु व्यक्ति या समाज की सार्थकता सिद्ध होती है। मानव मूल्य या जीवन मूल्य ऐसे मूल्यों की इकाई है जिससे सामाजिक एवं सामूहिक स्तर पर मनुष्य के जीवन को सार्थकता मिलती है। मनुष्य की मनुष्यता या मानवीयता का उत्कर्ष मानव मूल्य या जीवन मूल्य पर निर्भर करता है। मानव जीवन की सार्थकता इसी से सिद्ध होती है, अन्यथा वह निरर्थक प्रतीत होने लगता है। मूल्यों के बिना जीवन का अस्तित्व तो संभव हो सकता है, लेकिन उसकी सार्थकता प्रमाणित करना संभव नहीं है। अस्तित्व अपरिहार्य है, लेकिन अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने के लिए मूल्य अनिवार्य है।

मूल्य की परिभाषा करना कठिन है। उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके लक्षणों और विशेषताओं का विश्लेषण और संश्लेषण करते हुए किसी निष्कर्ष तक पहुँचना पड़ता है। मूल्य की परिभाषा सम्बन्धी कठिनाई का उल्लेख करते हुए चाँद किरण ने लिखा है, ''मूल्य अपने आप में एक बहुत ही विस्तृत तथा अमूर्त संकल्पना है जिसमें अनेक प्रकार के आयामों को देखा व परखा जाता है। एक ओर, किसी भी समाज की संस्कृति की श्रेष्ठता इन मूल्यों के स्वरूप पर ही निर्भर करती है तो दूसरी ओर ये किसी भी समाज के सदस्यों के व्यवहार की कसौटी भी माने जाते हैं। सामान्य तौर पर, किसी भी समाज की शिक्षा–प्रणाली का लक्ष्य इन मूल्यों को ही पाना होता है, जिन्हें प्रायः शिक्षा के उद्देश्य अथवा लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया जाता है, ताकि उस समाज के सदस्यों को समाज की एक निर्धारित या फिर, निश्चित–सी 'जीवन–शैली' में ढाला जा सकें। वे समाज के द्वारा स्वीकृत किये गए व्यावहार के मानदण्ड के अनुसार व्यावहार कर सकें। सामाजिक संदर्भों में जीवन जीने या जीवन–शैली के मानदण्ड ही मूल्य कहलाते हैं। सामान्य शब्दों में इन्हें जीवन जीने की कसौटी कहा जा सकता है। तकनीकी शब्दावली में इन्हें 'मानक' कहा जा सकता है।''[1] चाँद किरण के उक्त कथन से स्पष्ट है कि मूल्य का सम्बन्ध एक ओर व्यक्ति के आचरण से जुड़ा है तो दूसरी ओर संपूर्ण समाज की संस्कृति से जुड़ा है। इसका आयाम व्यक्ति से लेकर समाज तक फैला हुआ है। इससे व्यक्ति के चरित्र से लेकर समाज की अच्छाई–बुराई तक पता चलता है, क्योंकि मूल्य इन सबको मापने की कसौटी है।

साहित्य के प्रसंग में जीवन मूल्य (मानव मूल्य) के विश्लेषण के लिए रचनाकार की अंतरात्मा का प्रश्न अत्यंत महत्त्व के साथ जुड़ा है। इस स्थिति में मूल्य भी सृजन–प्रक्रिया का अंग होता है। साहित्य में अभिव्यक्त मानव–मूल्य का अनिवार्य सम्बन्ध रचनाकार के विश्वबोध से होता है। इसके साथ ही मानव–हित में उसमें एक विशेष प्रकार की पक्षधरता भी मौजूद रहती है। वह अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर मूल्य–निर्धारण की प्रक्रिया में शामिल रहता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का मत द्रष्टव्य है, ''साहित्य में पक्षधरता का प्रश्न हमेशा से रहा है और रहेगा। पक्षधरता का सम्बन्ध मनुष्य के विश्व बोध और सद्–असद्–विवेक बुद्धि अर्थात् अंतरात्मा के विवेक से है।''[2] साहित्य के गुणों की परख भी कई बार मूल्यों के आधार पर की जाती है। साहित्य का मूल्य समाज को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। वरीष्ठ आलोचक शंभुनाथ के शब्दों में, ''साहित्य में कविता, कहानी या उपन्यास के गुणों की परख ही कई बार इस आधार पर की जाती है कि उनमें किन मूल्यों, मूल्यों के संकट या मूल्यों की टकराहट अभिव्यक्त हुई है। संस्कृतियों के केन्द्र में सदा से साहित्य रहा है। इसलिए साहित्य को विघटित होते, बदलते या विस्थापित होते नए मूल्यों के आइने के

रूप में भी देखा जाता है। साहित्य के मूल्य ही देश/स्थान और काल पर रोशनी डालते हैं।''[3]

साहित्य में मूल्य के निर्णय करने वाली जिस अंतरात्मा का उल्लेख मुक्तिबोध जी कर रहे हैं, उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, ''अन्तरात्मा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है– मनुष्य की कानशैन्स, अर्थात् वह भावनापूर्ण सद्विवेक बुद्धि जो मनुष्य को बुरे कामों से रोकती है, और अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करती है। मनुष्य चाहे या न चाहे, अपने जीवन में निर्णय तो लेना ही होता है, संकल्प की क्रिया भी बराबर चलती रहती है। नहीं तो आदमी जिन्दगी में रह नहीं सकता, क्योंकि उसे दूसरे आदमियों के बीच अपने को रखना और चलना पड़ता है। अतएव, मनुष्य के हृदय में विश्वबोध तैयार होता रहता है। उसमें मानव–अस्तित्व का विश्लेषण और मानव–मूल्यों की स्थापना और उस स्थापना के लिए आकुलता की गति चलती रहती है। अतएव इन तीनों से मिलकर एक अन्तरात्मा तो अवश्य ही तैयार होती है, जो दिल में खटखट करती है। यह अन्तरात्मा– वह एक ढंग की पक्षधरता है। मनुष्य एक पक्षधर प्राणी है। पक्षधरता आधुनिक शब्द है। नया–नया शब्द है। उसके पीछे साम्यवादी छूत है। उसके राजनैतिक अर्थ होते हैं। भारतीय चेतना का राजनैतिकीकरण नहीं हुआ है। या अत्यन्त अल्प हुआ है। राजनैतिकीकरण से मेरा मतलब पार्टी–दर्शन के अनुसार चेतना का ढाला जाना नहीं है; मेरा मतलब उस विश्वबोध से है, जो विश्व को उच्चतर स्तर पर रूपान्तरित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, मानव–मूल्यों की सार्वत्रिक, सर्वस्तरीय नियन्त्रणशील स्थापना चाहता है। मानव–मूल्यों द्वारा जगत्गति का नियन्त्रण चाहता है। पक्षधरता हमेशा रही है, जाने–अनजाने। वह सही ढंग की पक्षधरता है या गलत ढंग की, यह प्रश्न है। यह प्रश्न हमेशा रहेगा।''[4]

मानव–मूल्य किस प्रकार साहित्य की सृजन–प्रक्रिया में शामिल होकर सृजित और संश्लेषित होता है, इसे स्पष्ट करने के लिए डॉ. जगदीश गुप्त के मंतव्य को देखना होगा। उनके अनुसार, ''किसी मूल्य का संश्लेषण तबतक सृजन–प्रक्रिया में संभव नहीं है जबतक वह अनुभूति की स्पंदित भावभूमि पर अवतरित नहीं होता। जिन मानवीय अनुभवों के आधार पर वह मूल्य सामान्य जीवन में सिद्ध माना गया है, उन या उनके समानांतर परिकल्पित वैसी ही अनुभूतियों की सजीव सृष्टि का सूत्रपात हुए बिना रचना–प्रक्रिया में मूल्यबोध का समावेश असंभव है। साहित्य में वे मानव–मूल्य ही प्रतिबिम्बित एवं समाविष्ट हो पाते हैं जिनको साहित्यकार ने अपने अन्तःकरण में धारण कर लिया है और जो उनके संवेदनशील व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग बन चुके हैं। ऐसे मानव मूल्य साहित्य और कला में संश्लिष्ट होकर व्यक्त होते हैं। वे आरोपित प्रतीत नहीं होते। इन्हें साहित्य के माध्यम से उपलब्ध मानव–मूल्य कहा जा सकता है।''[5]

साहित्य में व्यक्त मानव मूल्यों की स्थिति अन्य क्षेत्रों में व्यक्त मानव मूल्यों से भिन्न होती है। ऐसा साहित्य की विशिष्ट प्रकृति और मानव जीवन से उसके विशिष्ट सम्बन्ध के कारण संभव होता है। इसलिए साहित्य में व्यक्त मूल्यों का स्वरूप विशिष्ट रूप से सामने आता है। इस संदर्भ में डॉ. भगीरथ बड़ोले ने लिखा है, साहित्य में मानव मूल्यों की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। साहित्य चूँकि युग विशेष का प्रतिनिधित्व होता है तथा युग विशेष के विचारों का निर्माणकर्ता पथ प्रदर्शक भी होता है, इसलिए मानव–मूल्यों के संदर्भ में साहित्य का महत्त्व बढ़ जाता है।''[6]

'मूल्य' शब्द किसी भी वस्तु, व्यक्ति या समाज के मूल में निहित वह तत्त्व है, जिसके कारण वह मूल्यवान होता है। यह किसी वस्तु, व्यक्ति या समाज के महत्त्व को मापने का मानदण्ड है। मूल्य के द्वारा ही किसी भी लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। अतः वह लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है। मूल्य के कारण ही व्यक्ति या वस्तु में वह योग्यता उत्पन्न होती है, जिससे किसी लक्ष्य में सिद्धि प्राप्त की जाती है। इस योग्यता के कारण ही वस्तु में अच्छाई और सुन्दरता आधान होता है। मूल्य में इच्छा–पूर्ति की क्षमता होती है। इसलिए यह वांछित होता है। मूल्य महत्त्व का द्योतक है, जिसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। किसी चीज की कीमत (महत्त्व) को मूल्य कहा जाता है। वस्तु की कीमत या उसके महत्त्व का परीक्षण उसकी उपयोगिता के आधार पर किया जाता है। उपयोगिता वस्तुगत भी हो सकती है और भावगत भी हो सकती है। वस्तु की उपयोगिता ही हमारी संतुष्टि का आधार है। संतुष्टि अनुभूति का विषय है। उपयोगिता जन्य संतुष्टि की अनुभूति विभिन्न रूपों में होती है। इस संदर्भ में जगदीश गुप्त ने कहा है, ''जो वस्तु मानव–मन में प्रसाद (प्लेजर), प्रेरणा (इन्सपिरेशन), सार्थकता (रेलेवेन्स), आपूर्ति (फुलफिलमेण्ट) तथा परितोष (सैटिसफैक्शन) की अनुभूति उत्पन्न करने में सक्षम होती है, वही मूल्यवान प्रतीत होने लगती है।''[7]

जो साहित्यिक कृति हमें जितना संवेदनात्मक परितुष्टि प्रदान करती है, वह उतनी ही मूल्यवान मानी जाती है। यह हमारी सुप्त या अव्यक्त भावनाओं को उद्बुद्ध कर एक विशिष्ट प्रकार की भावनात्मक संतुष्टि प्रदान करती है। भावनात्मक संतुष्टि प्रदान करने वाली उपयोगिता स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी। इसके बावजूद यह माना जाता है कि मूल्य वस्तुपर आधारित न होकर मनुष्य की इच्छा–आकांक्षा और संतुष्टि पर आधारित होता है। इस संदर्भ में अशोक त्रिपाठी का कथन द्रष्टव्य है,''चूँकि मूल्य वस्तु–आश्रित न होकर मानवीय इच्छा–आकांक्षा एवं परितोष के आश्रित रहता है, इसलिए इच्छाओं और विचारों के साथ–साथ मूल्यों में भी बदलाव होता रहता है। शाश्वत मूल्य की कल्पना कोरी कल्पना ही है। इच्छाओं और आकांक्षाओं का बदलाव सहज ही नहीं होता, वरन् इस बदलाव के पीछे संघर्ष की मनोभूमि रहती है, इसलिए मूल्य–जगत में भी संघर्ष की स्थिति निरंतर गतिशील रहती है।''[8]

इसी मत के समर्थन में जगदीश गुप्त का मत है, मानव–मन की जटिलता इच्छा–इच्छाओं की विविधता तथा विचारों की अनेकरूपता मूल्यबोध के क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होती है। विचारों और इच्छाओं के समानान्तर मूल्यों में भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती रहती है तथा उतार–चढ़ाव लक्षित होता है।''[9]

मूल्य की परिवर्तनशीलता और विविधता को देखते हुए उसका वर्गीकरण और संख्या की गणना करना अव्यवहारिक प्रतीत होता है। फिर भी व्यावहारिक स्तर भी मूल्यों का संदर्भगत वर्गीकरण किया जाता रहा है। 'मूल्य' शब्द मूलतः अर्थशास्त्र का शब्द है, लेकिन क्षेत्र–विस्तार के साथ ही उसका अर्थ–विस्तार भी होता चला गया है। इस संदर्भ में आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का कथन ध्यातव्य है, "'मूल्य' मूलतः अर्थशास्त्र, या यों कहें कि राजनीतिक अर्थ–व्यवस्था का शब्द है, किंतु इसका क्षेत्र–विस्तार हो गया है। अर्थशास्त्र से इसका प्रवेश दर्शनशास्त्र में हुआ, फिर मनोविज्ञान में और मनोविज्ञान से साहित्य में।"[10]

किसी भाषा के वाचिक और लिखित (शास्त्र–समूह) को साहित्य कह सकते हैं। किसी भी साहित्य की सार्थकता उसकी मूल्यपरकता में निहित है। इसलिए साहित्य–सर्जक के लिए मूल्य–निरपेक्ष कृति की सृष्टि करना निरर्थक है। इससे उसकी रचना निष्प्रयोजन हो जाती है। ऐसे कार्य का किसी भी दृष्टि से महत्त्व–संपादन करना असंभव हो जाता है। साहित्यकार एक जागरूक एवं जिम्मेदार प्राणी होता है, इसलिए उसपर रचने के अतिरिक्त सामाजिक दायित्व भी होता है। इस संदर्भ में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कथन द्रष्टव्य है, "मूल्यबोध एवं उससे जुड़े प्रश्न पर विचार करना नीति के आचार्यों, दार्शनिकों आदि का ही कार्य नहीं बल्कि उस व्यक्ति अथवा सर्जक के लिए भी आवश्यक है जो सामाजिक रूप से पूरी तरह जागरूक है क्योंकि मूल्यों का निर्धारण, उसका चुनाव, आवश्यकता पड़ने पर किन्हीं मूल्यों का अनुमोदन एवं विरोध अथवा नये मूल्यों की सृष्टि पूरी तरह से सामाजिक जिम्मेदारी का कार्य है। मूल्य एवं उससे जुड़े प्रश्नों से विमुख होकर कोई भी सर्जक अपने सामाजिक दायित्व का पूरा–पूरा निर्वाह नहीं कर सकता।"[11]

भाषा, साहित्य और संस्कृति के साथ मूल्य का गहरा सम्बन्ध है। भाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारक है। इससे जुड़े होने के कारण साहित्य का भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। संस्कृति में किसी भी मानव समुदाय के विश्वास और मूल्य निहित होते हैं। मूल्यों और विश्वासों से जुड़े साहित्य का सांस्कृतिक महत्त्व असंदिग्ध है। अतः कहा जा सकता है कि मूल्यों के आधान के बिना साहित्य का मानव जीवन के संदर्भ में कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। साहित्य में मूल्य की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। साहित्य का आत्यंतिक महत्त्व मूल्याश्रित होता है। साहित्य परंपरागत उपयोगी मूल्यों का संवाहक एवं संरक्षक होता है, साथ ही वह नये मूल्यों का श्रष्टा भी होता है। फलतः वह समाज का नवनिर्माण करने में समर्थ होता है। इसके अभाव में साहित्य अर्थहीन और बेकार हो जाता है। साहित्य की मूल्यपरकता पर जोर देते हुए डॉ. धर्मवीर भारती का कथन बिल्कुल उचित है, "मानवीय मूल्यों के संदर्भ में यदि हम साहित्य को नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजना को प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओं में मुड़ जाता है।"[12]

वर्तमानयुगीन संकट को देखते हुए साहित्य की मूल्यपरकता का प्रश्न और जीवंत और ज्वलंत रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है। सर्वत्र मूल्यों के क्षरण दृष्टिगत हो रहे हैं। इसका सर्वाधिक घातक प्रभाव मानव के अस्तित्व, स्वत्व और जीवन की गरिमा पर पड़ रहा है। इस संकट से उबरने का एक बड़ा साधन मानव का वह कृतित्व है जिसे साहित्य कहा जाता है। इसमें योगक्षेम की अपार क्षमता है। मदांधता के इस दौर में इसी की सबसे अधिक उपेक्षा हो रही है। सत्ता प्रतिष्ठान के साथ ही इसके स्रष्टा भी आत्मघाती प्रवृत्तियों के शिकार हो रहे हैं। साहित्य की आत्मा की रक्षा के लिए कीमत चुकानी पड़ती है। इसके लिए त्याग और साहस की जरूरत पड़ती है। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है, "सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसके साथ समझौता नहीं हो सकता। साहित्य के चरम सत्य को पाने के लिए भी उसका पूरा–पूरा मूल्य चुकाना ही समीचीन है।"[13]

'मूल्य' को प्रत्यय के रूप में परिभाषित करते हुए प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और दार्शनिक डीवी ने माना है कि मनुष्य का भौतिक परिवेश निरंतर अनिश्चित और संघर्षमय रहता है। वह सदा अनियमित और अनिर्धारित रहता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को सतत् समायोजन की आवश्यकता बनी रहती है। इस प्रकार के समायोजन के लिए वैकल्पिक समाधान ढूँढ़ना पड़ता है। इस समाधान को प्रत्यय कहा जाता है। इस संदर्भ में उनका कथन है, "प्रत्यय समस्या का एक संभाव्य समाधान है– इसके अनुरूप क्रिया द्वारा यह प्रमाणित (या अप्रमाणित) किया जा सकता है कि समस्या का समाधान होगा (या नहीं)। प्रत्यय एक योजना है जिसके अनुसार आचरण करके एक अनिश्चित परिस्थिति को सुस्पष्ट किया जा सकता है। यदि कोई योजना (या प्रत्यय) समस्या का समाधान कर देती है तो वह 'सत्य' फलित हो जाती है। किसी प्रत्यय की सत्यता इसी में है कि वह हमें उचित दिशा में मार्गदर्शन दे; यदि वह ऐसा कर पाता है तो सत्य है नहीं तो गलत।"[14]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी समस्या के समाधान के लिए मनुष्य जिस वैकल्पिक समाधान की खोज करता है, वह मूल्य है। इस प्रकार के मूल्य को साधन मूल्य कहना उचित होगा। जिस प्रकार मनुष्य का भौतिक परिवेश समस्याग्रस्त है, उसी प्रकार उसका आंतरिक परिवेश भी समस्याग्रस्त रहता है। साहित्य अपनी विशिष्ट प्रकृति और मूल्यपरकता के कारण इन समस्याओं को सुलझाने में सहायता करता है। खासकर मनुष्य के भीतर असामंजस्य को दूर करने में उसकी बड़ी भूमिका होती है। व्यापक परिप्रेक्ष्य में भी उसकी भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की सामाजिक भूमिका को स्पष्ट करते हुए लिखा है,"हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नवनिर्माण की योजनाएँ तभी सर्वमंगलमयी–विधायिनी बन सकेगी जबकि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्रहिणी होगी और संकल्प महान और शुभ होगा। यह काम केवल उपयोगी और व्यावहारिक साहित्य के निर्माण से नहीं हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अंगों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी, जो मनुष्य को मनुष्य के सुख–दुःख के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। जबतक मानव–मात्र के मंगल के लिए इन्हें नहीं लिखा जाता, तबतक वे अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर

सकेंगे। इस बात के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के प्रति हमारी जो परंपरालब्ध दृष्टि है, वह स्पष्ट और सतेज हो।''[15]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। डॉ. धर्मावीर भारती की मान्यता है कि वर्तमान समय में मनुष्य की 'अन्तरात्मा का ध्वंस' हो चुका है। इस परिस्थिति में हमारी आन्तरिक स्थिति की प्रगति हमारी सृजनात्मकता, साहित्यिकता और सांस्कृतिक गतिशीलता के अभाव में मनुष्य भीतर से खोखला हो गया है। मनुष्य की अंतरात्मा की पुनःप्रतिष्ठा के लिए जिस विवेक और साहस की आवश्यकता है, उन जीवन मूल्यों का पोषण करने वाला सबसे सशक्त साधन साहित्य ही हो सकता है। यदि कोई साहित्य इस दृष्टि से सक्षम नहीं है तो वह प्रगतिशील एवं मूल्यवान साहित्य नहीं कहला सकता है। डॉ. धर्मवीर भारती ने लिखा है, ''सृजन, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में प्रगति की धारणा अन्ततोगत्वा आन्तरिक ही हो सकती है। प्रगति (नियति का क्रमिक साक्षात्कार) हमसे निरपेक्ष नहीं है। वह हमसे आबद्ध है, उसके निर्णायक तत्त्व हम ही हैं। इसीलिए प्रगति के प्रसंग में, समानता की स्थापना और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा 'अन्योन्याश्रित' हैं, अविच्छिन्न मूल्य हैं। इसे समझकर इसी दिशा में अन्तरात्मा की पुनःप्रतिष्ठा इस आसन्न संकट से मानवमात्र का उद्धार कर सकती है। विवेक और साहस का यह मार्ग थोड़ा दुष्कर अवश्य है, किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।''[16]

डॉ. धर्मवीर भारती ने जिस सांस्कृतिक संकट की चर्चा की है उसका सम्बन्ध मानवीय तत्त्वों के विघटन से है। इस संकट की गंभीरता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है,''यह संकट केवल आर्थिक या राजनीतिक संकट नहीं है वरन् जीवन के सभी पक्षों में समानरूप से प्रतिफलित हो रहा है। यह संकट केवल पश्चिम से पूर्व तक नहीं है वरन् समस्त संसार में विभिन्न धरातलों पर विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है।''[17]

डॉ. भारती के कहने का आशय यह है कि चारों ओर मानवीय मूल्यों के विघटन की समस्या व्याप्त है। विघटन इस क्षण में साहित्य पर मानव–नियति के सूत्रधार बनने और मानव–जीवन के क्षतिग्रस्त तंतुओं को संजीवित करने का नया दायित्व आ पड़ा है। इस संदर्भ में साहित्य की मूल्यपरकता पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान युग में मूल्यहीन साहित्य की प्रासंगिकता नहीं हो सकती है। डॉ. धर्मवीर भारती ने मानवीय मूल्य के प्रसंग में साहित्य की मूल्यपरकता पर विचार करते हुए लिखा है,''साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्यन्तरों (Responses) में से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है। इसलिए हम आधुनिक साहित्य के बहुत–से पक्षों को या आयामों को केवल तभी बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं जब हम उन्हें मानव मूल्यों के इस व्यापक संकट के संदर्भ में देखने की चेष्टा करें।''[18]

साहित्य की मूल्यपरकता का प्रश्न आसन्न मूल्य–संकट से गहराई से जुड़ा हुआ है। इसलिए इस प्रसंग की उपेक्षा कर साहित्य की मूल्यपरकता पर विचार करना संभव नहीं है। साहित्य संस्कृति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक है और मूल्य साहित्य और संस्कृति का सार है। इस स्थिति में मानव संस्कृति के मूल्य परक विकास के महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करना साहित्य और साहित्यकार का प्रमुख कार्यक्रम बन जाता है। इस संदर्भ में डॉ. धर्मवीर भारती का मत द्रष्टव्य है, ''साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास–निर्माण का दायित्व है, मानव–संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्तशिराओं में चलनेवाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे–छोटे क्षण में जीवन–प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है, उसकी भावनाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होनेवाले मानवीय मूल्य की विशदता को पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस संकट–काल के उखड़े हुए अर्द्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में भटके हुए व्यक्ति की जीवन–प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जी कर उसके द्वारा की गयी मूल्यों की निजी खोज और उसके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव–इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युवा को प्रेरित करना है। साहित्य की यह नयी मर्यादा सरल नहीं है, किंतु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता भय के कारण, संशय के कारण या असमंजस के कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़ पर क्रांति और इतिहास के प्रति विश्वासघात करता है।''[19]

साहित्य की मूल्यपरकता का परीक्षण दो दृष्टियों से किया जा सकता है– अन्तर्वस्तु की दृष्टि से और रूप की दृष्टि से। यद्यपि साहित्य के संदर्भ में इन दोनों तत्त्वों को अलग–अलग मानना भी बहुत समीचीन नहीं है, क्योंकि दोनों की पारस्परिकता को खंडित दृष्टि से देखने से साहित्य की स्वायत्तता खंडित हो जाएगी। साहित्यकार या कलाकार ऐसा सर्जक होता है जिसके ऊपर कलात्मक मूल्यों के साथ ही जीवन–मूल्यों के योगक्षेम का भी दायित्व होता है। इस प्रकार उसपर एक साथ ही दोहरी भूमिका निभाने की शर्त लगी रहती है। मुक्तिबोध ने कलाकार के दोहरे संघर्ष की चर्चा करते हुए लिखा है, ''वह कलाकार जो अपने काव्य–वैभव को और भी विकसित करना चाहता है, वह वस्तुतः द्विमुखी संघर्ष करता है। उसका एक संघर्ष कलाकृति को उसके पूर्ण सौन्दर्य में उद्भासित करने से, कलाकृति के अन्तर्बाह्य नियमों के अनुसार आकृति–गठन प्रस्तुत करने से, उसमें पूर्ण भाव–वैभव लाने से, संबंधित है, तो उसका दूसरा संघर्ष अपने वास्तविक जीवन में अधिकाधिक मानव–अनुभव तथा अधिकाधिक वैविध्य के दर्शन प्राप्त करने से है, अपने को अधिकाधिक संवेदनक्षम, जागरूक और विस्तृत करने से है, तथा एक ऐसा लक्ष्य प्राप्त करने से है, जो लक्ष्य उसके संपूर्ण जीवन और व्यक्तित्व को सार्थक कर दे।''[20]

जब साहित्य को एक स्वतंत्र अनुशासन माना जाता है तो इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना–प्रक्रिया

P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-8, ISSUE-3 February -2020
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

और मूल्यबोध की प्रक्रिया अन्य अनुशासनों से प्रभावित एवं संबंधित होने के बावजूद अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इस संदर्भ में नन्दकिशोर आचार्य का मत ध्यातव्य है, ''साहित्य की नैतिकता अनुप्रेरित और अनुप्राणित है स्वयं अपनी ही सृजनात्मकता से, उस मानवीय संवेदना से जो सृजनात्मकता में अपने होने का अनुभव करती है और उसी में अपनी सार्थकता का बोध करती है। समाज के आपसी सम्बन्धों में इस सृजनात्मकता की प्रतिष्ठा ही साहित्य का नैतिक कर्म है जो वह अपने होने के माध्यम से ही करता है। यह नैतिकता किसी दर्शन या विचारधारा से नहीं, स्वयं साहित्य की अपनी प्रक्रिया से उपजी मूल्य–संवेदना से प्रेरित और संचालित है। इस अर्थ में साहित्य एक स्वायत्त कर्म है जिसे अपने नैतिक बोध में अपने से बाहर की किसी सत्ता या प्रक्रिया से अनुशासित होने की जरूरत नहीं है। इसलिए साहित्य अपने समय और समाज के बोध के लिए किसी विचारक या संगठन के विश्लेषण की प्रतीक्षा नहीं करता– वह अपनी प्रक्रिया के माध्यम से ही नैतिक–अनैतिक अथवा न्याय–अन्याय का बोध करता है। यह बोध स्थूल रूप में, विषयवस्तु के रूप में भी प्रकट होता है, लेकिन भाषिक और सूक्ष्म रूपगत स्तरों पर साहित्य अपने होने की प्रक्रिया में ही एक नैतिक साधन– या चाहें तो कह लें संघर्ष हो जाता है।''[21]

यह सच है कि कला, साहित्य और नैतिकता का उद्देश्य सर्वोच्च शुभ को साध्य बनाना है। इसलिए इन्हें लोकमंगल की साधना का सर्वाधिक नैतिक साधन माना जाता है। इस प्रकार के साम्य के बावजूद इन सबमें प्रक्रियागत ही नहीं, प्रकृतिगत भेद भी पाये जाते हैं। इस संदर्भ में नन्दकिशोर आचार्य का मत है, ''कला और नैतिकता में एक साम्य तो देखा जा सकता है, लेकिन दोनों की प्रक्रिया अलग है– चाहे मोटे तौर पर उसका लक्ष्य एक जैसा दिख पड़ता हो। साहित्य के जरिए सत्य को उसकी विधि अर्थात् उसके रूप से पृथक् किया जाना संभव नहीं है। इन्हीं अर्थों में साहित्य एक स्वायत्त विद्या भी है, क्योंकि एक स्वतंत्र चिंतनशैली होने के नाते वह जिस सत्य को पहचानता है, उस तक किसी दूसरी चिंतनशैली के माध्यम से पहुँचना संभव नहीं है। दर्शन की शब्दावली में कहें तो साहित्य अपने आप में एक ज्ञानमीमांसा भी है। इसलिए उससे प्राप्त तत्त्वबोध– और मूल्यबोध भी– अनिवार्यतः इस ज्ञानमीमांसा की विधि से निर्धारित एवं प्रतिविशिष्ट हैं। आधुनिक लेखक जब कविता को अनुभव करने का, देखने का एक ढंग कहते हैं या जब वे लेखक के दर्शन को सोच के विषय में नहीं बल्कि स्वयं सोच की प्रक्रिया और व्यावहार में निहित मानते हैं, तो वे उस भारतीय धारणा का ही समर्थन कर रहे होते हैं जिसमें साहित्यकार को द्रष्टा अर्थात् कवि कहा गया है। इसका तात्पर्य क्या यही नहीं है कि काव्य अपने में एक विशिष्ट दृष्टि, एक विशिष्ट विजन है जिसे अपने अस्तित्व के लिए ज्ञान के किसी अन्य प्रकार– विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र सा नीतिशास्त्र– पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है? ज्ञान के अन्य प्रकार जहाँ विश्लेषण प्रधान और सत्य को युक्तिसत्य की तरह प्रस्तुत करने की ओर उन्मुख होते हैं, वहीं साहित्य और अन्य कला प्रकार सत्य को एक संश्लिष्ट एवं समग्र रचनानुभव, एक संवेदनात्मक रूप की तरह प्रस्तुत करते हैं। साहित्य का सत्य इसी अर्थ में रचनात्मक सत्य है क्योंकि वह एक रचनात्मक अनुभव है।''[22]

साहित्यिक कृतियों के अध्ययन के क्रम में प्रायः उनके सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को वस्तुगत अध्ययन से अलग करके देखा जाता है। लेकिन यह पद्धति रूढ़ हो जाने के कारण स्पंदनहीन हो चली है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भेद के स्थान पर अभेद दृष्टि अधिक सार्थक हो सकती है। मुक्तिबोध ने कला–सम्बन्धी अभेद दृष्टि का परिचय देते हुए लिखा है, ''कला का अपना स्वायत्त क्षेत्र है। किन्तु उसकी यह स्वतंत्रता जीवन सापेक्ष है, अपने प्राणपोषण और श्रीसम्पन्नता के विकास के लिए है। वह लेखक की मनोदशा पर, और मनोदशा के द्वारा ज्ञान–संवेदनात्मक तथा संवेदन–ज्ञानात्मक मनोजगत पर, अनुभव सम्पन्न मनोजगत पर निर्भर है। ऐसा मनोजगत जिसमें बाह्य विश्व आभ्यन्तरीकृत हुआ है, और मनोजगत के माध्यम से जीवन–जगत् पर जिसने लेखक को विशेष भावभूमि प्रदान की, विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया, जीवन–मूल्य, मूल्य–भावना, आदर्श भावना तथा संस्कार के अतिरिक्त परिवेश प्रदान किया– ऐसा परिवेश जिसके प्रति (वह) अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ करता रहा है, ऐसा परिवेश जो राष्ट्र, समाज, वर्ग और परिवार के भीतर की विशेष स्थितियों से और वातावरण से बना हुआ है।''[23]

किसी भी कलात्मक रचना का सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्ड एक खास सीमा तक उसके अंदर ही निहित रहता है। मनुष्य के निर्माण में, उसके सोच–विचार के निर्माण में उसकी संस्कृति का बड़ा योगदान रहता है। वह अपनी सामाजिक संस्कृति की उपज होता है। इस दृष्टि से किसी भी मनुष्य का स्वरूप सांस्कृतिक परिवेश के प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाता है। सामाजिक संस्कृति का निर्माण परिवार, समाज आदि से होता है। फ्रांसीसी विचारक लूई ड्यूमॉण्ट ने तथ्य–मूल्यपरक इकाई से संबंधित सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, ''सांस्कृतिक प्रभाव से ग्रस्त रहने के कारण भारतवर्ष के अनेकानेक समाज इन दोनों अवधारणाओं को एक दूसरे से अलग मानते ही नहीं; बल्कि वे 'तथ्य–मूल्य' नामक एक यौगिक अवधारणा को ही स्वीकार करते रहे हैं। अतः अनेक तथ्य आन्तरिक रूप से ही या तो पवित्र हैं या अपवित्र, या तो ग्राह्य हैं या अग्राह्य।''[24]

संस्कृति के व्यापक प्रभाव को मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है, चाहे वह कला या साहित्य का क्षेत्र ही क्यों न हो, मूल्य का क्षेत्र ही क्यों न हो। प्रो. नित्यानन्द मिश्र के अनुसार, ''मनुष्य कोई भी सोच एक शून्य दिमाग से नहीं करता। वह एक अवधारणात्मक ढाँचे (Conceptual Framework) के अन्तर्गत ही सोच–विचार करता है। यह संरचना उसी संस्कृति की देन होती है जिसमें वह मनुष्य जन्म लेकर पलता है और अपनी जीवन यात्रा में आगे बढ़ता है। संस्कृति का प्रभाव कुछ ऐसा होता है कि उससे आर्विभूत लक्षण व्यक्ति की मानसिकता का महज आगन्तुक लक्षण नहीं होता, वरन् वह उस मानसिकता का आन्तरिक या स्वरूप–लक्षण ही बन जाता है।''[25]

कलात्मक सौंदर्य (साहित्यिक सौन्दर्य) की सांस्कृतिक पृष्ठपोषकता की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, ''कलात्मक सौन्दर्य के मान, एक विशेष मर्यादा के अंतर्गत, कलाकृति के भीतर रही हैं। किन्तु सौंदर्य का यह अन्तरोद्भूत, अन्तर्जनित निकष, निश्चित, नियमित और नियंत्रित होता है सौन्दर्य–मानों की उस सांस्कृतिक परंपरा से, जो पूर्वापर रूप से निरंतर संशोधित, संस्कार–निर्मल होती आयी है, और जो वर्तमान अवस्था में भी युगीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं तथा इतरेतर प्रभावों से संशोधित–सम्पादित होती चलती है; सौन्दर्य–मानों की उस सांस्कृतिक परंपरा से, जो आज विश्व के विभिन्न देशों के सौन्दर्य–मानों और कलात्मक उपलब्धियों से पुनः पुनः प्रभावित, संशोधित और सम्पादित हुई जा रही है; सौन्दर्य–मानों की उस सांस्कृतिक परंपरा से, जिसमें मानवादर्श, नैतिक मूल्य तथा अन्य जीवन–मूल्य, संस्कार तथा मानवीय लक्ष्यों के प्रति उद्वृक्त विभिन्न जीवन–गतियाँ प्रवाहित और समाहित होती हैं, उस सांस्कृतिक परंपरा से जिसमें कलात्मक अभिरूचि, कलात्मक आदर्श, कलासम्बन्धी चिंतन भी समाविष्ट होता है।''[26]

साहित्य का सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता है, क्योंकि इसी के फलस्वरूप वह मानव की चेतना को प्रभावित करने में सफल होता है, साथ ही व्यापक क्षेत्र को आच्छादित करने में सफल होता है। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता है कि साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य का महत्त्व– लोकमंगल की साधनावस्था और लोकमंगल की सिद्धावस्था के काव्य के लिए एक समान होता है। उनके शब्दों में कहा जा सकता है, ''वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करनेवाला स्थायी प्रभाव उत्पन्न न हो सकेगा।''[27]

साहित्य के मूल्यांकन के लिए विषय, उयके स्वरूप आदि के साथ ही उसके कलात्मक रूप की उत्कृष्टता को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक होता है, क्योंकि मूल्यांकन सम्बन्धी इस समग्रतापूर्ण दृष्टि के अभाव में उसकी मूल्यपरकता का सम्यक् परीक्षण करना संभव नहीं हो सकता है। इस संदर्भ में दो साहित्यिक विचारकों– डॉ. धर्मवीर भारती एवं नन्दकिशोर आचार्य के मतों को आमने–सामने रखकर साहित्य की मूल्यपरकता को ठीक से समझा जा सकता है। डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार, ''साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनते हैं, जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है।''[28] दूसरी ओर नन्दकिशोर आचार्य का कथन है, ''अन्तर्वस्तु और रूप का अद्वैत साहित्यिक कृति की उत्कृष्टता का तात्पर्य ही रूप और अन्तर्वस्तु का अभिन्न होना है।''[29]

साहित्य का मानवकेंद्रित अध्यात्मवाद ही उसकी सबसे बड़ी मूल्यपरकता है, जिसके फलस्वरूप साहित्यकार का कृतित्व अच्छे–बुरे, घृण्य एवं प्रेमास्पद के द्वन्द्व से ऊपर उठकर साक्षीभाव (द्रष्टाभाव) की उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेता है और मानवमात्र के कल्याण–सिद्धि का साधन बन जाता है। शिव (कल्याण) से इतर सभी चीजों को निःस्तेज करते हुए वह सर्वोच्च शुभ अथवा मानवोचित मूल्य को अपनी रचना–प्रक्रिया द्वारा उपलब्ध करने का प्रयास करता है। 'सर्वोच्च शुभ' की उपलब्धि में ही साहित्य की वास्तविक मूल्यपरकता निहित होती है, जहाँ वह जनहित के लिए स्वयं को समर्पित कर देता है।

निष्कर्ष

साहित्य के अंतर्गत मूल्य एक विचार या धारणा के रूप में मान्य रहा है। यह दृश्य वस्तु न होकर अदृश्य वस्तु है। चिंतन–मनन ही इसके अन्वेषण, शोधन और सृजन का श्रोत रहा है। यह चेतना के स्तर पर अनुभव करने योग्य तथ्य है जिसे सत्य में परिणत करना व्यक्ति और समाज के लिए अत्यंत कठिन साधन का परिणाम होता है। साहित्य का जीवन से गहरा संबंध होता है, मूल्य जीवन को सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण बनाता है। अतः साहित्य का मूल्यपरक होना अनिवार्य है।

अंत टिप्पणी

1. *शिक्षा : दार्शनिक परिप्रेक्ष्य : चाँद किरण, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण : 2006, पृ.सं.–424,*
2. *मुक्तिबोध रचनावली : सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. सं.–179,*
3. *हिंदी साहित्य ज्ञानकोश, खण्ड : 5, प्र. सं. शंभुनाथ, भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता, प्रथम संस्करण : 2019, पृ.सं.–2917,*
4. *मुक्तिबोध रचनावली : सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. सं.–180,*
5. *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव–मूल्य और उपलब्धियाँ : डॉ. भगीरथ बड़ोले, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1983, पृ.सं.–43,*
6. *वही, पृ.सं.–43,*
7. *समकालीन हिन्दी कविता : तीन दशक : अशोक त्रिपाठी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2014, पृ.सं.–149,*
8. *वही, पृ.सं.–149–150,*
9. *वही, पृ.सं.–150,*
10. *पाश्चात्य काव्यशास्त्र : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण : 1984, पृ.सं.–227,*
11. *तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2005, पृ.सं.–152,*
12. *धर्मवीर भारती ग्रन्थावली : सं. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, खण्ड : पाँच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, पृ.सं.–285,*
13. *अशोक के फूल : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2013, पृ. सं.–153,*
14. *नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ : डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, संस्करण : 1997, पृ.सं.–129,*

15. अशोक के फूल : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2013, पृ. सं.–132–133,
16. धर्मवीर भारती ग्रन्थावली : सं. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, खण्ड : पाँच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, पृ.सं.–205,
17. वही, पृ.सं.–188,
18. वही, पृ.सं.–188,
19. वही, पृ.सं.–273,
20. मुक्तिबोध रचनावली : सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. सं.–154,
21. लेखक की साहित्यिकी : नन्दकिशोर आचार्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ.सं.–113,
22. वही, पृ.सं.–111,
23. मुक्तिबोध रचनावली : सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. सं.–153,
24. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : प्रो. नित्यानन्द मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण : 2014, पृ. सं.–29,
25. वही, पृ.सं.–247,
26. मुक्तिबोध रचनावली : सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड–5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. सं.–153–154,
27. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के श्रेष्ठ निबंध : सं. प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र, डॉ. विनोद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2010, पृ.सं.–215,
28. धर्मवीर भारती ग्रन्थावली : सं. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, खण्ड : पाँच, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2009, पृ.सं.–274,
29. लेखक की साहित्यिकी : नन्दकिशोर आचार्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ.सं.–108,